

# धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र की सहिष्णुता

□ डॉ० सागरमल जैन

भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी लेखनी से विपुल मात्रा में मौलिक एवं टीका साहित्य का सृजन किया है। अनुश्रुति है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थ रचे थे, किन्तु वर्तमान में उनके द्वारा रचित लगभग ८४ ग्रन्थों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध है। उन्होंने दर्शन, धर्म-साधना, योग-साधना, धार्मिक विधि-विधान, आचार, उपदेश कथाग्रन्थ आदि विविध विधाओं पर ग्रन्थों की रचना की है। उनका टीका साहित्य भी विपुल है। हरिभद्र उस युग के विचारक हैं, ये जब भारतीय चिन्तन एवं दर्शन के क्षेत्र में वाक्-छल और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति प्रमुख बन गयी थी। प्रत्येक दर्शन स्वपक्ष के मण्डन और परपक्ष के खण्डन में अपना बुद्धि-कौशल दिखला रहा था। मात्र यही नहीं, धर्मों और दर्शनों में पारस्परिक विद्वेष और घृणा की भावना भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। स्वयं हरिभद्र के दो शिष्यों को भी इस विद्वेष-भावना का शिकार होकर अपने जीवन की बलि देनी पड़ी थी। उस युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र के प्रदेयों का और उनकी महानता का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सकता है। हरिभद्र की महानता तो इसी में है कि उन्होंने शुष्क वाक्-जाल और घृणा एवं विद्वेष के इस विषम परिवेश में समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यद्यपि समन्वयशीलता, उदारता और समभाव के गुण हरिभद्र को जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि से विरासत में मिले थे, फिर भी उन्होंने इन गुणों को जिस शालीनता के साथ अपनी कृतियों में एवं जीवन में आत्मसात् किया है, वैसा उदाहरण स्वयं जैन परम्परा में भी विरल ही है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनकी इन्हीं विशेषताओं पर किञ्चित् विस्तार के साथ चर्चा करेंगे।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र की सहिष्णुता का रूप क्या है? यह समझने के लिए इस चर्चा को हम निम्न बिन्दुओं में विभाजित कर रहे हैं—

- (१) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण।
- (२) अन्य दर्शनों की समीक्षा में शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।
- (३) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार तत्त्व और मूल उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न।

**धर्मो दीप्तो  
संचार समुद्र में  
धर्म ही दीप है**

(४) अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों को एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न ।

(५) अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन और उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन ।

(६) उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए भी धार्मिक एवं पौराणिक ग्रन्थ-विश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन ।

(७) दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल; किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो ।

(८) धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न ।

(९) मुक्ति के सम्बन्ध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण ।

(१०) उपास्य के नाम-भेद को गौण मानकर उनके गुणों पर बल ।

### अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाई—लगभग ई० पू० ३ शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों—यथा नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीनकाल का अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादरभाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। स्वयं जैन परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान् ग्रंथ जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहाँ से अलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में संबोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है, यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम हरिभद्र की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परम्परा में अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है।

जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पन्द्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु

सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना हो था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पं० सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है।<sup>१</sup> यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन ऐकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं जबकि जैनदर्शन अनेकान्त-दृष्टि अपना देने के कारण सम्यग्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दधन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र अपने महादेव-स्तोत्र (४४) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं।

भव-बीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह श्लोक हरिभद्र के लोकतत्त्वनिर्णय में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है, यथा—

यस्य निखिलाश्च दोषा न संति, सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वस्तुतः २५०० वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है, एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रन्थकर्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है।

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पं० सुखलालजी पृ० ४० ।

उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है, अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उसके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

### दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों की परम्परा और उसमें हरिभद्र का स्थान

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। प० दलमुखभाई मालवणिया के शब्दों में (नय) चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।<sup>१</sup> नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकरविरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शन-संग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिममत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ० १४।

अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. १३५०?) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

वैदिक परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा स्थान माधवसरस्वतीकृत 'सर्वदर्शन-कौमुदी' का आता है। इस ग्रन्थ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक—एसे दो भागों में बाँटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध, और जैन ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तन्त्र और सांख्य ऐसे तीन भाग किये गये हैं। इस ग्रन्थ की शैली भी मुख्यरूप से खण्डनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है।

वैदिक परम्परा में दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वतीकृत 'सर्वदर्शनकौमुदी' का आता है। इस ग्रन्थ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक—एसे दो भागों में बाँटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध, और जैन ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तन्त्र और सांख्य ऐसे तीन भाग किये गये हैं। इस ग्रन्थ की शैली भी मुख्यरूप से खण्डनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय जैसा उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है।

वैदिक परम्परा के दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक-दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिकदर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत-दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनु-सार 'प्रस्थानभेद' के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है। वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि ये (प्रस्थानों के प्रस्तोता) सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार प्रस्थानभेद में यत्किञ्चित् उदारता

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ० १९।

का परिचय प्राप्त होता है। किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शकों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शनकौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेषरूप से वेदान्त को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गये दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकृतक के 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का प्रथम स्थान आता है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है क्योंकि इसके मंगलाचरण में—“सर्वभावप्रणेतां प्रणिपत्य जिने-श्वरं” ऐसा उल्लेख है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है।<sup>१</sup> अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ सर्वसिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम १२६५) के विवेकविलास का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया है—

‘अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः’—१३

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर ( विक्रम १४०५ ) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध)—इन छह दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभि-निवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके<sup>२</sup>।

पं० दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत षड्दर्शन-निर्णय है।<sup>३</sup> इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने बौद्ध

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३ ।

२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ४७ ।

३. षड्दर्शनसमुच्चय—सं० पं० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ० १९ ।

मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक इन छह दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। एक मात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृतक एक कृति मुद्रित है।<sup>१</sup> इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति रहे हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं।

### समीक्षा में शिष्टभाषा का प्रयोग और अन्य धर्मप्रवर्तकों के प्रति बहुमान

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन—यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं। दार्शनिक समीक्षाओं के क्षेत्र में एक युग ऐसा रहा है जिसमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं को न केवल अष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता था अपितु उनके प्रवर्तकों का उपहास भी किया जाता था। जैन और जैनेतर दोनों ही परम्परायें इस प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं रख सकीं। जैन परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि दिग्गज दार्शनिक भी जब अन्य दार्शनिक परम्पराओं की समीक्षा करते हैं तो न केवल उन परम्पराओं की मान्यताओं के प्रति, अपितु उनके प्रवर्तकों के प्रति भी चुटीले व्यंग्य कस देते हैं। हरिभद्र स्वयं भी अपने लेखन के प्रारम्भिक काल में इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रहे हैं। जैन आगमों की टीका में और धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थों की रचना में वे स्वयं भी इस प्रकार के चुटीले व्यंग्य कसते हैं किन्तु हम देखते हैं कि विद्वत्ता की प्रौढ़ता के साथ हरिभद्र में धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है और अपने परवर्ती ग्रन्थों में वे अन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्तकों के प्रति अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करते हैं। इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥

१. षड्दर्शनसमुच्चय—सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ० २० ।

धर्मो दीवो  
संसार समुद्र में  
धर्म ही दीप है

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेषबुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं—(कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः—शास्त्रवार्तासमुच्चय २३७)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं (यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यवत्—वही ४६५, ४६६)। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं—न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। शास्त्रवार्तासमुच्चय में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदर-भावना का परिचय दिया वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा में उपलब्ध नहीं होती।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत-स्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किन्तु सिद्धान्त में कर्म के जो दो रूप—द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गये हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूतस्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।<sup>१</sup> पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।<sup>२</sup>

इसी प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत्-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन ही किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं — मानव मन की प्रपत्ति या

१. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम् ।

आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतो मतम् ॥

शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते ।

अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम् ॥ —शास्त्रवार्तासमुच्चय ९५, ९६

२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ५३, ५४ ।



शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वरकर्तृत्ववाद की अवधारणा अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है<sup>१</sup>। हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है।<sup>२</sup> इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह 'ईश्वर' भी है और 'कर्ता' भी है। इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है।<sup>३</sup> हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं किन्तु वे प्रकृति को जैन परम्परा में स्वीकृत कर्मप्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि 'सत्य न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।'<sup>४</sup>

शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निःसारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है।<sup>५</sup> इस

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ५५।

२. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।  
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धतः ॥

ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।

यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः ॥

तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।

तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥ —शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०३-२०५

३. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः ।

स च कर्तृति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ —वही, २०७

४. प्रकृति चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ॥

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।

कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥ —वही २३२-२३७

५. अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।

क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥

विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये ।

विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः ॥ —शास्त्र० ४६४-४६५ ॥

धर्मो दीपो  
संसार समुद्र में  
धर्म ही दीप है

प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।<sup>१</sup> अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के ज्ञान मार्ग की भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।<sup>२</sup>

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने शास्त्रवातिसमुच्चय के प्राक्कथन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध कराना है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने ईमानदारी से प्रत्येक दार्शनिक मान्यता के मूलभूत उद्देश्यों को समझाने का प्रयास किया है और इस प्रकार वे आलोचक के स्थान पर सत्य के गवेषक ही अधिक प्रतीत होते हैं।

### अन्य दर्शनों का गम्भीर अध्ययन एवं उनकी निष्पक्ष व्याख्या

भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनीय आदि दिग्गज विद्वान् भी जब दर्शनों की समालोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देते हैं। यह सत्य है कि अनेकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र ने समालोच्य प्रत्येक दर्शन का ईमानदारी पूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीका भी लिखी। दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतञ्जलि के योगसूत्र का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने उसीके आधार पर एवं नवीन दृष्टिकोण से योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशति आदि ग्रन्थों की रचना की थी।

१. अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।

अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥ —वही, ५५० ॥

२. ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम्।

तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत् ॥ —वही, ५७९

३. यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥ —वही, २

इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

### अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन

यद्यपि हरिभद्र अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के प्रति एक उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे उनके अतर्कसंगत अन्धविश्वासों को प्रश्रय देते हैं। एक ओर अन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव रखते हुए उनमें निहित सत्यों को स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर उनमें पल रहे अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं—(१) धूर्ताख्यान और (२) द्विजवदनचपेटा। धूर्ताख्यान में उन्होंने पौराणिक परम्परा में पल रहे अन्धविश्वासों का सचोट निरसन किया है। हरिभद्र ने धूर्ताख्यान में वैदिक परम्परा में विकसित इस धारणा का खण्डन किया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कुछ पौराणिक मान्यताओं यथा शंकर के द्वारा अपनी जटाओं में गंगा को समा लेना, वायु के द्वारा हनुमान का जन्म, सूर्य के द्वारा कुन्ती से कर्ण का जन्म, हनुमान के द्वारा पूरे पर्वत को उठा लाना, वानरों के द्वारा सेतु बाँधना, श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करना। गणेश का पार्वती के शरीर के मूँल से उत्पन्न होना, पार्वती का हिमालय की पुत्री होना आदि अनेक पौराणिक मान्यताओं का व्यंग्यात्मक शैली में निरसन किया है। हरिभद्र धूर्ताख्यान में कथा के माध्यम से कुछ काल्पनिक बातें प्रस्तुत करते हैं और फिर कहते हैं कि यदि पुराणों में कही गयी उपरोक्त बातें सत्य हैं तो ये सत्य क्यों नहीं हो सकतीं। इस प्रकार धूर्ताख्यान में वे व्यंग्यात्मक किन्तु शिष्ट शैली में पौराणिक मिथ्या-विश्वासों की समीक्षा करते हैं। इसी प्रकार द्विजवदनचपेटा में भी उन्होंने ब्राह्मणपरम्परा में पल रही मिथ्या धारणाओं एवं वर्णव्यवस्था का सचोट खण्डन किया है। हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं, किन्तु अन्धविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के कठोर समीक्षक भी हैं।

### तर्क या बुद्धिवाद का समर्थन

हरिभद्र में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है किन्तु वे श्रद्धा को तर्कविरोधी नहीं मानते हैं। उनके लिए तर्क से रहित श्रद्धा उपादेय नहीं है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि न तो महावीर के प्रति मेरा कोई राग है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष ही है—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—लोकतत्त्वनिर्णय ३८

उनके कहने का तात्पर्य यही है कि सत्य के गवेषक और साधना के पथिक को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जो भी युक्तिसंगत लगे उसे स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इसके साथ ही वे बुद्धिवाद से पनपने वाले दोषों के प्रति भी सचेष्ट हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी

**धर्मो दीप्तो  
संसार समुद्र में  
धर्म ही दीप है**

मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिए अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए—

आग्रही वत निनीषति युक्ति, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।  
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र, तत्र तस्य मतिरेति निवेशम् ॥

आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का प्रयोग भी वहीं करता है जिसे वह सिद्ध अथवा खण्डित करना चाहता है जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जो उसे युक्तिसंगत लगता है उसे स्वीकार करता है। इस प्रकार हरिभद्र न केवल युक्ति या तर्क के समर्थक हैं किन्तु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि तर्क या युक्ति का प्रयोग अपनी मान्यताओं की पुष्टि या अपने विरोधी की मान्यता के खण्डन के लिए न करके सत्य की गवेषणा के लिए करना चाहिए और जहाँ भी सत्य परिलक्षित हो उसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वे शुष्क तार्किक न होकर सत्य-निष्ठ तार्किक हैं।

### कर्मकाण्ड के स्थान पर सदाचार पर बल

हरिभद्र की एक विशेषता यह है कि उन्होंने धर्मसाधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मिक पवित्रता और चारित्रिक निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। यद्यपि जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र (शील) को स्वीकार किया गया है। हरिभद्र भी धर्मसाधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करते हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि न तो श्रद्धा को अन्धश्रद्धा बनना चाहिए, न ज्ञान को कुतर्क आश्रित होना चाहिए और न आचार को केवल बाह्यकर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए। वे कहते हैं कि जिन पर मेरी श्रद्धा का कारण राग भाव नहीं है अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है। इस प्रकार वे श्रद्धा के साथ बुद्धि जोड़ते हैं। किन्तु निरा तर्क भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि तर्क का वाग्जाल वस्तुतः एक विकृति है जो हमारी श्रद्धा एवं मानसिक शान्ति को भंग करने वाली है। वह ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करने के कारण भाव-शत्रु है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक को तर्क के वाग्जाल से अपने को मुक्त रखना चाहिए।<sup>१</sup> वस्तुतः वे सम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है अतः उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है। शास्त्रवार्तासमुच्चय में उन्होंने धर्म के दो विभाग किये हैं—एक संज्ञान-योग और दूसरा पुण्य लक्षण<sup>२</sup>। ज्ञानयोग वस्तुतः शाश्वत सत्यों की अपरोक्षानुभूति है और इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है। हरिभद्र अन्धश्रद्धा से मुक्त होने के लिए तर्क एवं युक्ति को आवश्यक मानते हैं किन्तु उनकी दृष्टि में तर्क या युक्ति को सत्य का गवेषक होना चाहिए न कि खण्डन-मण्डनात्मक। खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ योगदृष्टि-समुच्चय में की है।<sup>३</sup> इसी प्रकार धार्मिक आचार को भी वे शुष्क कर्मकाण्ड से पृथक् रखना चाहते हैं। यद्यपि हरिभद्र ने कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु पं० सुखलाल संघवी ने

१. योगदृष्टिसमुच्चय ८७ एवं ८८ ।
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २० ।
३. योगदृष्टिसमुच्चय, ८६-१०१ ।

प्रतिष्ठाकल्प आदि को हरिभद्र द्वारा रचित मानने में सन्देह किया है। हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य, श्रावक एवं मुनि आचार से सम्बन्धित साहित्य को देखने से ऐसा लगता है कि वे धार्मिक जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी जिन बातों का निर्देश किया है वे भी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिकनिर्मलता और कषायों के उपशमन के निमित्त ही है। जीवन में कषाय उपशान्त ही समभाव सधे यही उनकी दृष्टि में साधना का मुख्य उद्देश्य है। धर्म के नाम पर पनपने वाले थोथे कर्मकाण्ड एवं छद्म जीवन की उन्होंने खुलकर तिन्दा की है और मुनिवेश में ऐहिकता का पोषण करने वालों को आड़े हाथों लिया है। उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।

मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

—योगविन्दु ३१

### साधनागत विविधता में एकता का दर्शन

धर्मसाधना के क्षेत्र में उपलब्ध विविधताओं का भी उन्होंने सम्यक्-समाधान खोजा है। जिस प्रकार गीता में विविध देवों की उपासना को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है उसी प्रकार हरिभद्र ने भी साधनागत विविधताओं के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं—उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार पद्धतियाँ बाह्यतः भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वतः एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है तत्त्वतः भेद नहीं होता है।<sup>१</sup>

हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जो भिन्नता है वह मुख्य रूप से दो आधारों पर है। एक तो साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी नामों की भिन्नता के आधार पर। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश में जो भिन्नता है वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है। जिस प्रकार एक वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता के आधार पर और रोग की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार महात्मा जन भी संसार रूपी व्याधि हरण करने हेतु साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की भिन्न-भिन्न विधियाँ बताते हैं।<sup>२</sup> वे पुनः करते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वतः एक ही होती है।<sup>३</sup> वस्तुतः विषय वासनाओं से आक्रान्त लोगों के द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही है। वस्तुतः हरिभद्र की मान्यता यह है कि धर्म साधना के क्षेत्र में बाह्य

१. योगदृष्टिसमुच्चय १०७, १०८, १०९।

२. चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।

यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥—योगदृष्टिसमुच्चय, १३४

३. यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः।

ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥—योगदृष्टिसमुच्चय, १३८

धर्मो दीपो  
संसार समुद्र में  
धर्म ही दीप है

आचारगत भिन्नता या उपास्य की नामगत भिन्नता बहुत ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यही है कि व्यक्ति अपने जीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है, उसकी कषायों कितनी शान्त हुई हैं और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है।

### मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण

हरिभद्र अन्य धर्माचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखते हैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना पद्धति या हमारे धर्म से ही होगी। उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल हमारे धर्म में है—एसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे ।

न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

अर्थात् मुक्ति न तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है न दिगम्बर रहने से, तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्तविशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्तिविशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तो वस्तुतः कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है। वे स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मुक्ति का आधार कोई धर्म सम्प्रदाय अथवा विशेष वेषभूषा नहीं है। वस्तुतः जो व्यक्ति समभाव की साधना करेगा, वीतराग दशा को प्राप्त करेगा वही मुक्त होगा। उनके शब्दों में—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा ।

समभावभाविअप्पा लहेय मुक्खं न संदेहो ॥

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को मानने वाला हो।

### साधना के क्षेत्र में उपास्य का नामभेद महत्त्वपूर्ण नहीं

हरिभद्र की दृष्टि में आराध्य के नामभेदों को लेकर धर्म के क्षेत्र में विवाद करना उचित नहीं है। लोकतत्त्वनिर्णय में वे कहते हैं—

यस्य निखिलाश्च दोषा, न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वस्तुतः जिसके सभी दोष चिन्ष्ट हो चुके हैं और जिनमें सभी गुण विद्यमान हैं फिर उसे चाहे ब्रह्मा कहा जाये, चाहे विष्णु, चाहे जिन कहा जाय उसमें भेद नहीं। वस्तुतः सभी धर्म और दर्शनों में उस परमतत्त्व या परमसत्ता को राग-द्वेष, तूष्णा और आसक्ति से रहित विषय-वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णज्ञ तथा परमकारिणिक माना गया है। किन्तु हमारी दृष्टि उस परम तत्त्व के मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं। जबकि यह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। योगदृष्टिसमुच्चय में वे लिखते हैं कि—

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथागतः ।

शब्दैस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एकं एवैवमादिभिः ॥

अर्थात् सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द भेद है। उनका अर्थ तो एक ही है। वस्तुतः यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक हम उस आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं कर पाते हैं। व्यक्ति जब वीतराग, वीततृष्ण या अनासक्ति की भूमिका का स्पर्श करता है तब उसके सामने नामों का यह विवाद निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः आराध्य के नामों की भिन्नता भाषागत भिन्नता है। स्वरूपगत भिन्नता नहीं। वस्तुतः जो इन नामों के विवादों में उलझता है, वह अनुभूति से वंचित हो जाता है। वे कहते हैं कि जो उस परम तत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिए यह शब्द-गत समस्त विवाद निरर्थक हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक उदारचेता, समन्वयशील और सत्यनिष्ठ आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य को खोज पाना कठिन है। अपनी इन विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वे अद्वितीय और अनुपम हैं।

—निदेशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५



धर्मो दीयो  
संसार समुद्र में  
धर्म ही दीप है